॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष : २ अंक : १०

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

माघ २४७३

चेत, चेत, प्रभु! चेत

भगवान कहते हैं कि विचार कर, विचार कर। अनादि संसार में परिभ्रमण करते हुये तूने एकेन्द्रियादि पर्याय में कैसे कैसे दु:ख सहन किये, इसकी तुझे खबर नहीं है किन्तु हम जानते हैं। भाई! इन दु:खों का वर्णन नहीं किया जा सकता। अब तू मनुष्य हुआ है तो ध्यान रख और स्वरूप को समझ ले, इस अपूर्व अवसर को मत चूक जाना। यदि अभी भी स्वरूप की चिन्ता नहीं करेगा तो तेरे दु:खों को अन्त नहीं है। निगोद से इतना ऊपर उठकर आया है तो अब अपने सिद्ध स्वरूप का शीघ्र ही आधार ग्रहण कर ले। यदि स्वरूप का आधार ग्रहण नहीं किया तो फिर नीचे वहीं निगोद में पहुँचेगा और यदि स्वरूप का आश्रय ग्रहण करेगा तो अनन्त अक्षय सुख की प्राप्ति होगी।

भगवान कहते हैं कि चेत, चेत, प्रभु चेत। आत्मा का स्वभाव पूर्ण जानना-देखना है। जहाँ पूर्ण जानना-देखना होता है, वहाँ पूर्ण सुख अवश्य होता है। स्वभाव ही सुख है; अत: सुख के लिये स्वभाव की श्रद्धा करना चाहिये।

[मोक्षमार्ग प्रकाशक]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र (२२)

एक अंक पाँच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म

: वर्ष : २ : २२ : माघ :
: अंक : १० : : २४७३ :

महापाप

''मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है, मिथ्यात्व का सद्भाव रहते हुये अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता, इसलिये प्रत्येक उपायों के द्वारा सब तरह से इस मिथ्यात्व का नाश करना चाहिये।'' [मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ पृष्ठ २७०]

''यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमन कर रहा है और इसी परिणमन के द्वारा संसार में अनेक प्रकार के दु:ख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का संबंध होता है। यही भाव सर्व दु:खों का बीज है, अन्य कोई नहीं। इसलिये हे भव्य जीवो! यदि तुम दु:खों से मुक्त होना चाहते हो तो सम्यग्दर्शनादि के द्वारा मिथ्यादर्शनादिक विभावों का अभाव करना ही अपना कार्य है। इस कार्य को करते हुये तुम्हारा परम कल्याण होगा।''

[मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ४ पृष्ठ ९८]

उपरोक्त कथन पर

पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन

इस मोक्षमार्गप्रकाशक में अनेक प्रकार से मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप निरूपण करने का हेतु यह है कि मिथ्यात्व के स्वरूप को समझकर, यदि अपने में वह महान दोष हो तो उसे दूर किया जाय। स्वयं अपने दोषों को दूर करके सम्यक्त्व ग्रहण किया जाय। यदि अन्य जीवों में वह दोष हो तो उसे देखकर उन जीवों पर कषाय नहीं करना चाहिये। दूसरे के प्रति कषाय करने के लिये यह नहीं कहा गया है। हाँ, यह सच है कि यदि दूसरों में मिथ्यात्वादिक दोष हों तो उनका आदर-विनय न किया जाय किन्तु उन पर द्वेष करने को भी नहीं कहा है।

अपने में यदि मिथ्यात्व हो तो उसका नाश करने के लिये ही यहाँ पर मिथ्यात्व का स्वरूप बताया गया है क्योंकि अनन्त जन्म-मरण का मूल कारण ही मिथ्यात्व है। क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि कोई भी अनन्त संसार का कारण नहीं है, इसलिये वास्तव में वह महापाप नहीं है किन्तु विपरीतमान्यता ही अनन्त अवतारों प्रगट होने की जड़ है, इसलिये वही

महापाप है, उसी में समस्त पाप समा जाते हैं। जगत् में मिथ्यात्व के बराबर अन्य कोई पाप नहीं है। विपरीतमान्यता में अपने स्वभाव की अनन्त हिंसा है। कुदेवादि को मानने में तो गृहीत मिथ्यात्व का अत्यन्त स्थूल महापाप है।

कोई लड़ाई में करोड़ों मनुष्यों के संहार करने के लिये खड़ा हो, उसके पाप की अपेक्षा एक क्षण के मिथ्यात्व-सेवन का पाप अनंतगुणा अधिक है। सम्यक्त्वी लड़ाई में खड़ा हो, तथापि उसके मिथ्यात्व का सेवन नहीं है, इसलिये उस समय भी उसके अनंत संसार के कारणरूप बंधन का अभाव ही है। सम्यग्दर्शन के होते ही ४१ प्रकार के कर्मों का तो बंध होता ही नहीं है। मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला महापापी है। जो मिथ्यात्व का सेवन करता है और शरीरादि की क्रिया को अपने आधीन मानता है, वह जीव त्यागी होकर भी यदि कोमल पींछी से परजीव की यतना कर रहा हो तो उस समय भी उसके अनंत संसार का बंध ही होता है और उसके समस्त प्रकृतियाँ बँधती हैं और शरीर की कोई क्रिया अथवा एक विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा जिसने मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया है, वह जीव लड़ाई में हो अथवा विषय-सेवन कर रहा हो, तथापि उस समय उसके संसार की बुद्धि नहीं होती और ४१ प्रकृतियों के बंध का अभाव ही है। इस जगत् में मिथ्यात्वरूपी विपरीत मान्यता के समान दूसरा कोई पाप नहीं है।

आत्मा का भान करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस सम्यग्दर्शन से युक्त जीव लड़ाई में होने पर भी अल्प पाप का बंध करता है और वह पाप उसके संसार की वृद्धि नहीं कर सकता क्योंकि उसके मिथ्यात्व का अनंत पाप दूर हो गया है और आत्मा की अभान में मिथ्यादृष्टि जीव, पुण्यादि की क्रिया को अपना स्वरूप मानता है, तब वह भले ही परजीव की यतना कर रहा हो, तथापि उस समय उसे लड़ाई लड़ते हुये और विषय-भोग करते हुये सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा अनंतगुणा पाप मिथ्यात्व का है। मिथ्यात्व का ऐसा महान पाप है। सम्यग्दृष्टि जीव अल्पकाल में ही मोक्षदशा को प्राप्त कर लेगा, ऐसा महान् धर्म सम्यग्दर्शन में है।

जगत् के जीव, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के स्वरूप को ही नहीं समझे। वे पाप का माप बाहर के संयोगों पर से निकालते हैं किंतु वास्तविक पाप-त्रिकाल महापाप तो एक समय के विपरीत अभिप्राय में है। उस मिथ्यात्व का पाप जगत् के ध्यान में ही नहीं आता और अपूर्व आत्म-प्रतीति के प्रगट होने पर अनंत संसार का अभाव हो जाता है तथा अभिप्राय में सर्व पाप दूर हो जाते हैं। यह सम्यक्दर्शन क्या वस्तु है ? इसे जगत् के जीवों ने सुना तक नहीं है।

मिथ्यात्वरूपी महान पाप के रहते हुए अनंत व्रत करे, तप करे, देव दर्शन, भक्ति-पूजा इत्यादि सबकुछ करे और देशसेवा के भाव करे, तथापि उसका संसार किंचित्मात्र भी दूर नहीं होता। एक सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूप की सच्ची पहिचान) के उपाय के अतिरिक्त अन्य जो अनंत उपाय हैं, वे सब उपाय करने पर भी, मिथ्यात्व को दूर किये बिना धर्म का अंश भी प्रकट नहीं होता और एक भी जन्म-मरण दूर नहीं होता, इसलिये प्रत्येक उपाय के द्वारा सर्व प्रकार के उपाय करके मिथ्यात्व का नाश करके शीघ्र ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सम्यक्त्व का उपाय ही सर्व प्रथम कर्तव्य है।

यह खास ध्यान में रखना चाहिये कि कोई भी शुभभाव की क्रिया अथवा व्रत-तप इत्यादि सम्यक्त्व को प्रगट करने का उपाय नहीं है किन्तु अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान और अपने आत्मा की रुचि तथा लक्ष्यपूर्वक सत्समागम ही उसका उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है तथा पुण्य के करते करते धर्म होता है' इस प्रकार की मिथ्यात्वपूर्ण विपरीत मान्यता में एक क्षणभर में अनंत हिंसा है, अनंत असत्य है, अनंत चोरी है, अनंत अब्रह्मचर्य (व्यभिचार) है और अनंत परिग्रह है। एक मिथ्यात्व में एक ही साथ जगत् के अनंत पापों का सेवन है।

१— मैं परद्रव्य का कुछ कर सकता हूँ, इसका अर्थ यह है कि जगत् में जो अनंत परद्रव्य हैं, उन सब को पराधीन माना है और पर मेरा कुछ कर सकता है, इसका अर्थ यह है कि अपने स्वभाव को पराधीन माना है। इस मान्यता में जगत् के अनंत पदार्थों की और अपने अनंत स्वभाव की स्वाधीनता की हत्या की गई है, इसलिये उसमें अनंत हिंसा का महान पाप होता है।

२— जगत् के समस्त पदार्थ स्वाधीन हैं, उसकी जगह उन सब को पराधीन-विपरीत स्वरूप माना तथा जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना स्वरूप माना, इस मान्यता में अनंत असत् सेवन का महा पाप है।

३— पुण्य का विकल्प अथवा किसी भी परवस्तु को जिसने अपना माना है, उसने त्रिकाली परवस्तुओं और विकारभाव को अपना स्वरूप मानकर अनंत चोरी का महापाप किया है।

४— एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर सकता है, यों माननेवाले ने स्वद्रव्य-परद्रव्य को भिन्न न रखकर उन दोनों के बीच व्यभिचार करके दोनों में एकत्व माना है और ऐसे अनंत परद्रव्यों के साथ एकतारूप व्यभिचार किया है, यही अनंत मैथुन सेवन का महा पाप है।

५— एक रजकण भी अपना नहीं है—ऐसा होने पर भी, जो जीव, मैं उसका कुछ कर सकता हूँ; इस प्रकार मानता है, वह परद्रव्य को अपना मानता है। जो तीनों जगत् के परपदार्थ हैं, उन्हें अपना मानता है; इसलिये इस मान्यता में अनंत परिग्रह का महापाप है।

इस प्रकार जगत् के सर्व महापाप, एक मिथ्यात्व में ही समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिये जगत् का सबसे महा पाप मिथ्यात्व ही है और सम्यग्दर्शन के होने पर ऊपर के समस्त महा पापों का अभाव हो जाता है; इसलिये जगत् का सर्व प्रथम धर्म, सम्यक्त्व ही है। अत: मिथ्यात्व को छोड़ो और सम्यक्त्व को प्रगट करो। ●●

सम्यग्दर्शन

समयसार गाथा १४२ पर पूज्य कानजी स्वामी का प्रवचन

सम्यग्दर्शन क्या है और उसका अवलंबन क्या है ?

सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय है। अखंड आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलंवन नहीं है किन्तु निर्विकल्प -स्वभाव के अवलंबन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व सुख का कारण है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बंधरहित हूँ'—ऐसा विकल्प करना, सो भी शुभराग है। उस शुभराग का अवलंबन भी सम्यग्दर्शन के नहीं है। उस शुभ विकल्प को उल्लंघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्परहित निर्मल गुण है। उसके किसी विकार का अवलंबन नहीं है किन्तु समूचे आत्मा का अवलंबन है। वह समूचे आत्मा को स्वीकार करता है।

एकबार विकल्परहित होकर अखंड ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई। अखंडस्वभाव का लक्ष्य ही स्वरूप की सिद्धि के लिये कार्यकारी है। अखंड सत्यस्वरूप को जाने बिना-श्रद्धा किये बिना 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्धस्पृष्ट हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धि के लिये कार्यकारी नहीं है। एकबार अखंड ज्ञायकस्वभाव का लक्ष्य करने के बाद जो

वृत्तियाँ उठती हैं, वे वृत्तियाँ अस्थिरता का कार्य करती हैं परंतु वे स्वरूप को रोकने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि श्रद्धा में तो वृत्ति-विकल्परहित स्वरूप है; इसलिये जो वृत्ति उठती है, वह श्रद्धा को नहीं बदल सकती है। जो विकल्प में ही अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। विकल्परहित होकर अभेद का अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है और यही समयसार है। यही बात निम्न लिखित गाथा में कही हैं:—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णय पक्खं।
पक्खवाति क्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥१४२॥

'आत्मा, कर्म से बद्ध है या अबद्ध' इस प्रकार दो भेदों के विचार में लगना, सो नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ, पर से भिन्न हूँ' इस प्रकार का विकल्प भी राग है। इस राग की वृत्ति को-नय के पक्ष को उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बँधा हुआ हूँ अथवा मैं बंध रहित मुक्त हूँ' इसप्रकार की विचारश्रेणी को उल्लंघन करके जो आत्मा का अनुभव करता है, सो सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है। मैं अबंध हूँ-बंध मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार के भंग की विचारश्रेणी के कार्य में जो लगता है, वह अज्ञानी है और उस भंग के विचार को उल्लंघन करके अभंगस्वरूप को स्पर्श करना (अनुभव करना), सो प्रथम आत्मधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रय रहित अबंध शुद्ध हूँ'—ऐसे निश्चयनय के पक्ष का जो विकल्प है, सो राग है और उस राग में जो अटक जाता है (राग को ही सम्यग्दर्शन मान ले किन्तु राग रहित स्वरूप का अनुभव न करे), वह मिथ्यादृष्टि है।

भेद का विकल्प उठता तो है, तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादि काल से आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है, इसलिये आत्मानुभव करने से पूर्व तत्संबंधी विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अनादिकाल से आत्मा का अनुभव नहीं है, इसलिये वृत्तियों का उत्थान होता है कि मैं आत्मा, कर्म के संबंध से युक्त हूँ अथवा कर्म के संबंध से रहित हूँ; इसप्रकार दो नयों के दो विकल्प उठते हैं परंतु 'कर्म के संबंध से युक्त हूँ अथवा कर्म के संबंध से रहित हूँ अर्थात् बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ' ऐसे दो प्रकार के भेद का भी एक स्वरूप में कहाँ अवकाश है ? स्वरूप तो नय पक्ष की अपेक्षाओं से परे है, एक प्रकार के स्वरूप में दो प्रकार की अपेक्षायें नहीं हैं। मैं शुभाशुभभाव से रहित हूँ; इस प्रकार के विचार में लगना भी एक पक्ष है, इससे भी उस पार स्वरूप है। स्वरूप तो पक्षातिक्रांत है, यही सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् उसी के

लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है ? देह की किसी क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता, जड़कर्मों से नहीं होता, अशुभराग अथवा शुभराग के लक्ष्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और 'मैं पुण्य-पाप के परिणामों से रहित ज्ञायकस्वरूप हूँ'—ऐसा विचार भी स्वरूप का अनुभव कराने के लिये समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' इस प्रकार के विचार में जो अटका, सो वह भेद के विचार में अटक गया किन्तु स्वरूप तो ज्ञातादृष्टा है, उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेद के विचार में अटक जाना सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है, वह अपने आप परिपूर्ण स्वभाव से भरी हुई है। आत्मा का स्वभाव पर की अपेक्षा से रहित एकरूप है। कर्मों के संबंध से युक्त हूँ अथवा कर्मों के संबंध से रहित हूँ, इसप्रकार की अपेक्षाओं से उस स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबंध ही है परंतु 'मैं अबंध हूँ' इस प्रकार के विकल्प को भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञातादृष्टा निरपेक्ष स्वभाव का लक्ष्य करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

हे प्रभु! तेरी प्रभुता की महिमा अंतरंग में परिपूर्ण है। अनादिकाल से उसकी सम्यक् प्रतीति के बिना उसका अनुभव नहीं होता। अनादिकाल से परलक्ष्य किया है, किन्तु स्वभाव का लक्ष्य नहीं किया है। शरीरादि में तेरा सुख नहीं है, शुभराग में तेरा सुख नहीं है और 'शुभरागरहित मेरा स्वरूप है' इस प्रकार के भेद विचार में भी तेरा सुख नहीं है, इसलिये उस भेद के विचार में अटक जाना भी अज्ञानी का कार्य है और उस नय पक्ष के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञाता स्वभाव का लक्ष्य करना, सो सम्यग्दर्शन है और उसी में सुख है। अभेदस्वभाव का लक्ष्य कहो, ज्ञातास्वरूप का अनुभव कहो, सुख कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो, वह सब यही है।

विकल्प रखकर स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता।

अखंडानंद अभेद आत्मा का लक्ष्य, नय के द्वारा नहीं होता। कोई किसी महल में जाने के लिये चाहे जितनी तेजी से मोटर दौड़ाये किन्तु वह महल के दरवाजे तक ही जा सकती है, मोटर के साथ महल के अंदर कमरे में नहीं घुसा जा सकता। मोटर चाहे जहाँ तक भीतर ले जाये किन्तु अंत में तो मोटर से उतरकर स्वयं ही भीतर जाना पड़ता है; इसी प्रकार नयपक्ष के विकल्पोंवाली मोटर चाहे जितनी दौड़ाये 'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ' ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूप के आंगन तक ही जाया जा सकता है किन्तु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देना ही पड़ते हैं।

विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्ष का ज्ञान उस स्वरूप के आँगन में आने के लिये आवश्यक है।

''मैं स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ हैं, जड़ कर्म मेरे स्वरूप को नहीं रोक सकते, मैं विकार करूँ तो कर्मों को निमित्त कहा जा सकता है, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक दूसरे का कुछ नहीं करते, मैं जड़ का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता; जो राग-द्वेष होता है, उसे कर्म नहीं कराता तथा वह परवस्तु में नहीं होता किन्तु मेरी अवस्था में होता है; वह राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, निश्चय से मेरा स्वभाव, रागरहित ज्ञानस्वरूप है'' इस प्रकार सभी पहलुओं का (नयों का) ज्ञान पहले करना चाहिये किन्तु जबतक इतना करता है, तबतक भी भेद का लक्ष्य है। भेद के लक्ष्य से अभेद आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, तथापि पहले उन भेदों को जानना चाहिये, जब इतना जान ले, तब समझना चाहिये कि वह स्वरूप के आँगन तक आया है। बाद में जब अभेद का लक्ष्य करता है, तब भेद का लक्ष्य छूट जाता है और स्वरूप का अनुभव होता है अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस प्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्ष के विचार होते तो हैं परंतु वे नयपक्ष के कोई भी विचार स्परूपानुभव में सहायक तक नहीं होते।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संबंध किसके साथ है ?

सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प सामान्य गुण है, उसका मात्र निश्चय-अखंड स्वभाव के साथ ही संबंध है। अखंड द्रव्य जो भंग-भेदरहित है, वही सम्यग्दर्शन को मान्य है। सम्यग्दर्शन, पर्याय को स्वीकार नहीं करता किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है, उसका संबंध निश्चय-व्यवहार दोनों के साथ है। अर्थात् निश्चय-अखंड स्वभाव को तथा व्यवहार में पर्याय के जो भंग-भेद होते हैं, उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है किन्तु सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को यह नहीं जानता कि मैं एक निर्मल पर्याय हूँ। सम्यग्दर्शन का एक ही विषय अखंड द्रव्य है; पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का विषय अखंड है और वह पर्याय को स्वीकार नहीं करता, तब फिर सम्यग्दर्शन के समय पर्याय कहाँ चली गई ? सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्या पर्याय, द्रव्य से भिन्न हो गई ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन का विषय तो अखंड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय से अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शन को मान्य है (अभेद वस्तु का लक्ष्य करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह सामान्य वस्तु के साथ अभेद हो जाती है) सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है, उसे भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता। एक समय में अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन को मान्य है। मात्र आत्मा को सम्यग्दर्शन प्रतीति में लेता है किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान, सामान्य-विशेष सब को जानता है। सम्यग्ज्ञान, पर्याय को और निमित्त को भी जानता है, सम्यग्दर्शन को भी जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुये ?

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिकभाव इत्यादि कोई भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है क्योंकि वे सब पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है। पर्याय को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता; मात्र वस्तु का जब लक्ष्य किया, तब श्रद्धा सम्यक् हुई परंतु ज्ञान सम्यक् कब हुआ ? ज्ञान का स्वभाव सामान्य-विशेष सब को जानना है। जब ज्ञान ने सारे द्रव्य को, प्रगट पर्याय को और विकार को तदवस्थ जानकर इसप्रकार का विवेक किया कि 'जो परिपूर्ण स्वभाव है, सो मैं हूँ और जो विकार है, सो मैं नहीं हूँ' तब वह सम्यक् हुआ। सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्याय को और सम्यग्दर्शन की विषयभूत परिपूर्ण वस्तु को तथा अवस्था की कमी को तदवस्थ जानता है। ज्ञान में अवस्था की स्वीकृति है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चय को ही (अभेद स्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी (साथ ही रहनेवाला) सम्यग्ज्ञान, निश्चय और व्यवहार दोनों को बराबर जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहार को लक्ष्य करे तो दृष्टि खोटी (विपरीत) ठहरती है और जो व्यवहार को जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है। ज्ञान, निश्चय-व्यवहार का विवेक करता है; इसलिये वह सम्यक् है (समीचीन है) और दृष्टि, व्यवहार के लक्ष्य को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करे तो सम्यक् है।

सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ? और मोक्ष का परमार्थ कारण कौन है ?

सम्यग्दर्शन के विषय में मोक्षपर्याय और द्रव्य से भेद ही नहीं है, द्रव्य ही परिपूर्ण है, वह सम्यग्दर्शन को मान्य है। बंध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शन को मान्य नहीं। बंध-मोक्ष की पर्याय, साधकदशा का भंगभेद इन सभी को सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है। पंच महाव्रतादि को अथवा विकल्प को मोक्ष का कारण कहना, सो स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना, सो भी व्यवहार है क्योंकि उस साधक अवस्था का भी जब अभाव होता है, तब मोक्षदशा प्रगट होती है अर्थात् वह अभावरूप कारण है, इसलिये व्यवहार है।

त्रिकाल अखंड वस्तु ही निश्चय मोक्ष का कारण है किंतु परमार्थतः तो वस्तु में कारण -कार्य का भेद भी नहीं है। कार्य-कारण का भेद भी व्यवहार है। एक अखंड वस्तु में कार्य-कारण के भेद के विचार से विकल्प होता है, इसलिये वह भी व्यवहार है। तथापि व्यवहार से भी कार्य -कारण भेद हैं अवश्य। यदि कार्य-कारण भेद सर्वथा न हों तो मोक्षदशा को प्रगट करने के लिये भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अवस्था में साधक-साध्य का भेद है, परंतु अभेद के लक्ष्य के समय व्यवहार का लक्ष्य नहीं होता क्योंकि व्यवहार के लक्ष्य में भेद होता है और भेद के लक्ष्य में परमार्थ-अभेद स्वरूप लक्ष्य में नहीं आता, इसलिये सम्यग्दर्शन के लक्ष्य में भेद नहीं होते; एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शांति का उपाय है

अनादि से आत्मा के अखंडरस को सम्यग्दर्शनपूर्वक नहीं जाना, इसलिये पर में और विकल्प में जीव रस को मान रहा है। परंतु मैं अखंड एकरूप स्वभाव हूँ, उसी में मेरा रस है; पर में कहीं भी मेरा रस नहीं है। इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल से एकबार सब को नीरस बना दे। जो शुभविकल्प उठते हैं, वे भी मेरी शांति के साधक नहीं हैं। मेरी शांति मेरे स्वरूप में है, इसप्रकार स्वरूप के रसानुभव में समस्त संसार को नीरस बना दे तो तुझे सहजानंदस्वरूप के अमृतरस की अपूर्व शांति का अनुभव प्रगट होगा, उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसार का अभाव सम्यग्दर्शन से ही होता है

अनंतकाल से अनंत जीव, संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनंत काल में अनंत जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके मुक्ति को प्राप्त हुये हैं। इस जीव ने संसार पक्ष तो अनादि से ग्रहण किया है परंतु सिद्ध का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया। अब सिद्ध का पक्ष करके अपने सिद्धस्वरूप को जानकर संसार के अभाव करने का अवसर आया है और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है। ★

जब आत्मा स्वयं अवस्था में भूल करता है तब कर्म निमित्तरूप कहलाता है किन्तु

वे दोनों पृथक् हैं

आत्मप्रतीति के बिना प्रत्येक जीव अनंतकाल में शुभ करनी करके नवमें ग्रैवेयक तक गया है। जैन त्यागी-साधु होकर २८ मूलगुणों का बिल्कुल ठीक पालन करके स्वर्ग में गया परंतु यह सब पुण्यभाव हैं। पुण्य-पाप रहित आत्मा ज्ञानानंदमूर्ति है, उसकी भान हुये बिना कभी भी धर्म नहीं हुआ। आत्मा ज्ञानानंदमूर्ति है और इसकी श्रद्धा-ज्ञान ही मोक्षमार्ग का साधक है। व्रत, तप इत्यादि सभी शुभभाव की क्रियाऐं हैं, वे मोक्षमार्ग में बाधक हैं। आत्मा की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता ही साधक है; इस प्रकार जो जीव नहीं समझता, वह आत्मा को भी नहीं जानता और वह मिथ्यात्व के महापाप का सेवन करता है।

विकार मात्र एक समय के लिये है

यह ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, देह-मन-वाणी से पृथक् और जड़कर्मों से अलग ही है। इस प्रकार सर्व परद्रव्यों से पृथक् जानकर आत्मा में देखने पर वर्तमान आत्मा की अवस्था में एक समयमात्र के लिये विकार है और सारा अविकारस्वभाव है। विकार आत्मा में एक समय मात्र के लिये ही है। आत्मा चिद्घनमूर्ति वस्तु है; विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है परंतु परलक्ष्य से होनेवाला विरुद्ध भाव है। वह विकार दो समय का कभी भी एकत्रित नहीं होता और त्रैकालिक निर्विकारस्वभाव कभी विकाररूप नहीं होता। छद्मस्थ के ज्ञान के उपयोग में वह विकार असंख्य समय आता है क्योंकि छद्मस्थ का ज्ञान स्थूल होता है, इसलिये वह एक समय के परिणमन को नहीं पकड़ सकता, तथापि विकार तो एक समयमात्र का ही है। जब एक समय का विकार व्यय हो जाता है, तब दूसरे समय का विकार उत्पन्न होता है किन्तु दो समय का विकार एक साथ आत्मद्रव्य में नहीं हो सकता। इस प्रकार क्योंकि विकार एक ही समय का होता है; इसलिये संसार भी एक ही समय का है। विकार ही संसार है।

विकारी भाव का कर्ता जड़ कर्म नहीं है

पुण्य-पाप के भाव 'भावकर्म' हैं वह आत्मा की अवस्था में होनेवाला विकार है, विकारभाव का कर्ता वास्तव में जड़कर्म नहीं है किंतु आत्मा की अवस्था में वह होता है; इसलिये

उसका कर्ता आत्मा की वर्तमान योग्यता ही है। शास्त्रों में निमित्त की मुख्यता बताने के लिये भले ही यह लिखा हो कि मोहनीयकर्म को लेकर आत्मा में मिथ्यात्व होता है परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। मोहकर्म तो जड़-अचेतन है, वह आत्मा की अवस्था में कुछ भी नहीं कर सकता। जब आत्मा स्वयं अवस्था में भूल करता है, तब कर्म निमित्तरूप कहलाता है किंतु वे दोनों पृथक् हैं। भूल, आत्मा की अवस्था है और कर्म, जड़ की अवस्था है। आत्मा में जड़कर्म नहीं है और जड़कर्म में आत्मा नहीं है; इसलिये कोई किसी का कुछ नहीं करता, दोनों अपनी-अपनी अवस्था में अस्तिरूप और पर की अवस्था में नास्तिरूप प्रवृत्ति करते हैं।

आत्मा की अवस्था में विकार एक समयमात्र के लिये है। तीन काल और तीन लोक में भी परवस्तु से विकार नहीं हो सकता। जो यह मानता है कि परवस्तु से आत्मा में विकार होता है, वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि, राग को कम करे तो भी वह धर्मात्मा नहीं है। धर्मात्मापन तो मिथ्यात्व के दूर होते ही होता है, उसके बिना नहीं होता।

विकारभाव का कर्ता आत्मा है

भावकर्म आत्मा की अवस्था में होनेवाला विकार है, वह आत्मा की अवस्था में ही होता है; इसलिये अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा का ही है। पुण्य-पाप के विकारी भाव, आत्मा की अवस्था में होते हैं, कहीं जड़ की अवस्था में नहीं होते। जड़ परमाणुओं में चेतनपना नहीं है, उसके तो स्वयं क्या है, इसकी कोई खबर भी नहीं है। पुद्गलद्रव्य तो चेतन रहित है। जो पुण्य-पाप का भाव है, वह चेतन का विकार है। जड़ में पुण्य-पाप का भाव नहीं है। कर्म भी जड़ हैं, वे कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते। शास्त्र में यह कथन आता है कि 'ज्ञानावरणीकर्म ज्ञान को रोकता है, मोहनीयकर्म राग-द्वेष कराता है' वहाँ उसका वास्तविक अर्थ यों समझना चाहिये कि वास्तव में जड़ कर्म की आत्मा में कोई सत्ता ही नहीं है, जड़ कर्म, चेतन को कुछ कराते नहीं हैं। जब आत्मा स्वयं अपनी अवस्था में उल्टा भाव करके अज्ञानरूप परिणमन करता है, उस समय कर्म की उपस्थिति है, इसलिये वह निमित्त का कथन है परंतु निमित्त ने उपादान में कोई कार्य नहीं किया। वास्तव में आत्मा की अवस्था में कर्म कुछ भी नहीं करता है। अज्ञानी जीव अपने विपरीत पुरुषार्थ से अपनी दशा में विकार करता है, वहाँ अपना ही अपराध है परंतु अज्ञानी जीव अपनी तरफ न देखकर पर के ऊपर दोष डालता है कि कर्म विकार कराते हैं। इस प्रकार मानने से वह अपने दोष को दूर नहीं करता। यदि अपनी अवस्था में दोष है, उसको जाने तो क्षणिक दोष को त्रिकाली दोष

रहित स्वभाव के बल से दूर करे। विकार एक समयमात्र अवस्था में है; द्रव्य में अथवा गुण में तो विकार नहीं है और वर्तमान पर्याय का विकार भी बाद की पर्याय में आता नहीं है; इसप्रकार जाना, वहाँ विकार के स्वभाव का आसरा (आधार) नहीं रहा, क्षणिक अवस्था में जो विकार है, वह दूर हो ही जाता है।

व्रत, तप, पूजा, भक्ति का शुभभाव और हिंसा, चोरी इत्यादि का अशुभभाव, वह सब आस्रव है, राग है; वह राग, आत्मा की अवस्था में होता है परंतु वह आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है, इसलिये वह दूर हो सकता है। राग दूर हो सकता है, इस अपेक्षा से आत्मा का नहीं है परंतु वह होता तो आत्मा की ही अवस्था में है और आत्मा करे, तभी वह होता है; कर्म, राग नहीं कराता क्योंकि कर्म और आत्मा पृथक् वस्तु है। भिन्न वस्तु एक-दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकती, यह सिद्धांत है।

एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ नहीं कर सकती सो कैसे ?

विश्व की प्रत्येक वस्तु स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है ''स्व अपेक्षा से है पर अपेक्षा से नहीं'' इसका क्या अर्थ है ? जैसे आत्मा वस्तु आत्मा के रूप में है और जड़ कर्म के रूप में नहीं है, इसी प्रकार मेरा आत्मा मेरी अपेक्षा से है दूसरी आत्मारूप मेरी आत्मा नहीं है; और जो जड़कर्म हैं, वे जड़रूप हैं, आत्मारूप नहीं हैं। इस प्रकार जो जो वस्तुऐं हैं, वे सब अपने रूप से हैं, पररूप से नहीं हैं, ऐसा वस्तु का स्वरूप है, वह 'अनेकांत स्वरूप' कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुएं भिन्न हैं और जो वस्तु भिन्न होती है, वह वस्तु दूसरी वस्तु की अवस्था में कुछ कार्य नहीं कर सकती। यदि एक वस्तु दूसरी का कुछ करे तो वे दोनों वस्तुएं एक हो जाय और दो वस्तुएं भिन्न न रहें। परंतु दो वस्तुएं त्रिकाल जुदी हैं, इसलिये एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकतीं। कर्ता और कार्य दोनों एक ही वस्तु में होते हैं, भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं होते, ऐसा नियम है। आत्मा का कार्य तो आत्मा की ही अवस्था में होता है और कर्म का कार्य जड़ की अवस्था में होता है।

निश्चय और व्यवहार

प्रश्न—निश्चय से तो कर्म, आत्मा को विकार नहीं कराते परंतु व्यवहार से कर्म, आत्मा को विकार कराते हैं न ? जैसा कर्म का जोर होता है, वैसा आत्मा में विकार होता है—यह व्यवहार से तो है न ?

उत्तर—निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी तरह से एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ

नहीं कर सकती। कर्म किसी अपेक्षा से आत्मा का कुछ कर ही नहीं सकते। 'निश्चय से कर्म आत्मा का कुछ नहीं करता और व्यवहार से कर्म आत्मा का करता है' यह निश्चय-व्यवहार का स्वरूप नहीं है। आत्मा जब अपनी अवस्था में भूल करता है, तब वहाँ कर्म की उपस्थिति होती है, वह हाजिरी बताने के लिये उपचार से 'यह कर्म, आत्मा को विकार कराते हैं' ऐसा बोलना सो व्यवहार है और व्यवहार के कथन का अर्थ उस भाषा के अनुसार नहीं होता। व्यवहार में जहाँ 'कर्म, आत्मा का करता है' ऐसा बोला जाता है; वहाँ निश्चय से (वास्तव में) 'कर्म, आत्मा का कुछ नहीं करता' ऐसा समझना चाहिये।

आत्मा की स्वतंत्रता

आत्मा और कर्म वे दोनों जुदी वस्तुएं हैं, इसलिये कर्म, आत्मा को कुछ नहीं कर सकते। शुभ अथवा अशुभभाव, कर्म करता है-ऐसा नहीं है। जब अशुभभाव स्वयं करता है, तब होता है और कषाय की मंदता करके शुभभाव भी जब स्वयं करता है, तब होता है। ''कर्म में लिखा होगा तो शुभभाव होगा'' यह बात असत्य है। शुभभाव मैं करूँ तो हो, और मुझे शुभभाव करने से कोई कर्म रोक नहीं सकता, ऐसी स्वतंत्रता है। आत्मा जो भाव करे, वह भाव कर सकता है, कर्म की उपस्थिति होने पर भी उसने आत्मा में कुछ किया नहीं है।

परवस्तु का असर आत्मा में नहीं होता

आत्मा में परवस्तु का असर नहीं होता। परजीव मरे अथवा बचे, उसका पाप अथवा पुण्य आत्मा को नहीं है, परंतु जीव स्वयं अपने को भूलकर परलक्ष्य में जैसा शुभ या अशुभभाव करता है, उसके अनुसार पुण्य या पाप होता है। परद्रव्य की क्रिया का फल आत्मा में नहीं है क्योंकि आत्मा उसका कर्ता नहीं है। आत्मा अपने विकारी या अविकारी भाव का कर्ता है और उसी का फल आत्मा को है। आत्मा की विकारी अथवा अविकारी अवस्था कर्म नहीं कराता, किंतु आत्मा ही उसका कर्ता है। 'घी का घड़ा' जैसे बोलनामात्र है, वास्तव में घड़ा घी का बना हुआ नहीं होता; इसीप्रकार शास्त्र में जहाँ 'कर्म, आत्मा को विकार कराता है' ऐसा लिखा होता है, वहाँ समझना चाहिये कि वह कथनमात्र है परंतु व्यवहार में भी कर्म ने आत्मा को कुछ कराया नहीं है, मात्र विकार के समय उसकी उपस्थिति होती है। जिस समय आत्मा विकार करता है, उस समय कर्म की हाजिरी होती है, यह बताने के लिये व्यवहार से कथनमात्र है, फिर भी जो व्यवहार की भाषा के शब्दानुसार वस्तु का स्वरूप मान ले तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे वस्तु के सच्चे स्वरूप की खबर नहीं है।

अवस्थादृष्टि और स्वभावदृष्टि

पूजा, भक्ति का शुभभाव अथवा हिंसा, तत्त्वविरोध आदि अशुभभाव इत्यादि भावों का कर्ता आत्मा हैं, क्योंकि वे आत्मा की ही अवस्था में होते हैं, कहीं जड़ की अवस्था में वह नहीं होते। विकारी अवस्था का कर्ता आत्मा है परंतु वह विकार, आत्मा का स्वभाव नहीं है।

समयसार में शुद्ध आत्मा का स्वभाव बताया है, इसलिये शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि के बल से पुण्य-पाप के विकारभाव का कर्ता आत्मा नहीं है—ऐसा शुद्धनय की अपेक्षा से उसमें कहा है। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर अर्थात् अकेले आत्मा को सर्व परद्रव्य से भिन्न लक्ष्य में लेने पर ज्ञात होता है कि विकार का उत्पादक आत्मा नहीं है। यहाँ ऐसा प्रश्न उठेगा कि विकार का उत्पादक आत्मा नहीं है तो कौन है ? क्या कर्म, आत्मा को विकार कराता है ?

उत्तर—(१) आत्मा का स्वभाव, विकार का उत्पादक नहीं है (२) परवस्तु विकार नहीं कराती (३) मात्र एक समय की अवस्था में अपने लक्ष्य को भूलकर जीव, परलक्ष्य करता है, तब विकार होता है अर्थात् एक समय की जो अवस्था है, सो विकार की उत्पादक है।

(१) आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है, अर्थात् आत्मा स्वयं विकार का उत्पादक नहीं है। यदि आत्मस्वभाव विकार का उत्पादक होता तो विकार, आत्मा से कभी छूट ही नहीं सकता, किन्तु विकार आत्मा से छूट जाता है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। (२) जिस प्रकार आत्मा स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है; उसी प्रकार कर्म वगैरह कोई भी परवस्तु, आत्मा में विकार नहीं कराती। प्रत्येक वस्तु स्व अपेक्षा से है, पर अपेक्षा से नहीं, इसप्रकार वस्तुस्वरूप का अबाधित सिद्धांत है। जो चीज आत्मा के रूप में नहीं होती, वह आत्मा की अवस्था में कुछ भी नहीं कर सकती, इसलिये जड़कर्म भी विकार नहीं कराते। (३) मात्र परलक्ष्य से एक समय मात्र की अवस्था होती है, वही विकार का कारण है। एकसमय में होनेवाली अवस्था ही विकार की कर्ता है, इसलिये विकार भी एक समय का होता है। त्रिकाली स्वभाव में विकार नहीं है। यदि ऐसा द्रव्य-पर्याय का स्वरूप समझ ले तो त्रिकाली स्वभाव के बल से क्षणिक विकार दूर हो सकता है।

जैनधर्म की महत्ता

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि 'जैनधर्म में सूक्ष्म कर्म की बहुत बात की है, इसलिये जैनधर्म की महत्ता है' किन्तु उससे जैन की महत्ता नहीं है। जैन, कर्मवादी नहीं किंतु अनेकांतवादी अर्थात् स्वतंत्रवादी है। प्रत्येक वस्तु स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है अर्थात् एक वस्तु

अपनी शक्ति से पूर्ण हैं और दूसरी सभी वस्तुओं से वह भिन्न है। इस प्रकार प्रत्येक जड़ और चेतन वस्तुएं अपने गुण-पर्याय से परिपूर्ण स्वतंत्र भिन्न-भिन्न हैं। किसी वस्तु का गुण-पर्याय दूसरी वस्तु में कुछ नहीं कर सकता... इस प्रकार वस्तु की स्वतंत्रता और परिपूर्णता बताई है—यही जैनधर्म की महत्ता है। जैनधर्म स्वतंत्र वस्तुदर्शन है, वस्तुस्वभाव के आश्रित जैनधर्म है, उसे काल अथवा क्षेत्र की मर्यादा में कैद नहीं कर सकते। जगत् की कोई वस्तु जैनधर्म की मर्यादा के विरुद्ध नहीं होती अर्थात् जगत् की कोई वस्तु दूसरी वस्तुरूप तीनकाल में परिणमित नहीं हो सकती। यदि जड़ होवे तो तीनकाल में जड़रूप रहकर परिणमन करता है और चेतन होवे तो तीनकाल में वह चेतनरूप से रहकर परिणमित होता है।

परंतु किसी काल अथवा किसी क्षेत्र में जड़ का स्वभाव बदलकर चेतनरूप और चेतन का स्वभाव जड़रूप नहीं हो जाता—ऐसी वस्तुधर्म की त्रिकाल मर्यादा है और जो जैनधर्म है, सो वस्तुधर्म है; इसलिये वह त्रिकाल अबाधित है।

परवस्तु ने आत्मा को भूल कराई, इसलिये आत्मा का संसार में परिभ्रमण है, यह बात बिल्कुल गलत है। आत्मा स्वयं अनंत गुणों का पिंड, पर से जुदा है। अपने स्वाधीन स्वभाव को भूलकर अज्ञानभाव से स्वयं परिभ्रमण करता है और सच्ची समझ के द्वारा भूल को दूर कर स्वयं ही भगवान हो जाता है। भगवान की कृपा हो तो इस आत्मा का उद्धार हो, यह बात गलत है। एक जीव के भाव का दूसरे जीव के ऊपर असर नहीं हो सकता। निश्चय से आत्मा, पर की दया नहीं पाल सकता किंतु व्यवहार से पर की दया पाल सकता है—ऐसा भगवान के अनेकांतवाद का स्वरूप नहीं है, किंतु एक जीव, परजीव की दया अथवा हिंसा, व्यवहार या निश्चय से किसी भी तरह से नहीं कर सकता किंतु अपना भाव कर सकता है, यह अनेकांत है। अपना शुभभाव हो और सामने का जीव उसकी आयु के कारण बच जावे वहाँ 'मैंने दया पालन की' इस प्रकार जीव के भाव की पहचान कराने के लिये बोलने की एक रीत है, परंतु मैं पर को बचा सकता हूँ, इस प्रकार मानना, सो मिथ्यात्व का महा पाप है।

धर्मीपना किस कारण से है

कोई द्रव्य दूसरे किसी द्रव्य की अवस्था को करता है, इस प्रकार मानना जैनदर्शन से दूर है। जहाँ ऐसी सच्ची श्रद्धा नहीं है, वहाँ सच्चा व्रत-तप होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन क्या है, आत्मा क्या है, वह जाने बिना व्रत-तप कैसे करेगा? सच्ची श्रद्धा ही धर्म का मूल है। जहाँ सच्ची श्रद्धा नहीं है, वहाँ धर्म का अंश भी नहीं है।

श्री कुंदकुंदाचार्य भगवान और सर्व तीर्थंकरों का हृदय इस प्रकार पुकार कर कहता है कि आत्मा, परद्रव्य का कुछ कर सकता है—ऐसा मानना, सो सम्यग्दर्शन नहीं है परंतु 'परभावस्य कर्ता आत्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्' अर्थात् आत्मा, परद्रव्य की अवस्था का कर्ता है—ऐसी मान्यता व्यवहारी मूर्ख जीवों का मोह है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है। व्यवहार से भी जीव, पर का कुछ कर नहीं सकता। व्यवहार से जीव, शरीर को हलन-चलन कराता हो, सो बात नहीं है। शरीर तो जड़ वस्तु है और मैं आत्मा तो चेतनमय हूँ, शरीर मुझसे जुदी वस्तु है, उसका मैं जाननेवाला हूँ किंतु करनेवाला नहीं। आत्मस्वभाव का भान होने पर अनंत परपदार्थों का स्वामीपना छूट गया। आत्मा का भान होने के बाद बाह्य त्याग होता है या नहीं, परंतु वह जीव धर्मी है। जिस तरह श्रेणिक राजा को आत्मभान था और बाह्य में राज-पाट तथा अनेक रानियों के संयोग में दिखाई देते थे, तथापि अंतरंग से उदास थे। उनके सच्ची आत्मश्रद्धा की भूमिका प्रगट होने के बाद धर्मराग हुआ, इससे तीर्थंकरनामकर्म का बंध किया और अब वे आनेवाली चौबीसी में पहले तीर्थंकर होंगे। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान के बिना कोई बाह्य त्यागी हो और 'एक परमाणु का फेरफार भी मुझसे होता है' इस प्रकार माने तो जैन का साधु कहलाने पर भी वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, जैन नहीं है। जो यह मानता है कि शरीर को मैं चला सकता हूँ और जीव और शरीर को एक मानता है, वह जैनमत से बाहर है।

जैनदर्शन की सिद्धि

जैनमत तो वीतराग मार्ग है; यह कोई संकुचित सीमा नहीं है, कल्पना नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण है और जो परिपूर्ण आत्मस्वभाव है, वही जैनदर्शन है। उस स्वभाव की श्रद्धा करना, सो धर्म है। जैनदर्शन युक्ति से, आगम से, स्वानुभव से सिद्ध है परंतु शरीर की किसी क्रिया से, बाह्य त्याग से अथवा वेष से जैनदर्शन की सिद्धि नहीं है।

पुण्य में सुख माने तो मिथ्यादृष्टि ही है

शरीर की क्रिया में अथवा पैसा वगैरह में जो जीव सुख मानता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है, पैसा वगैरह तो पूर्व पुण्य का फल है, अब जबकि पूर्व के पुण्य के फल में आत्मा का सुख नहीं है, तब वर्तमान पुण्य भाव में आत्मा का सुख कैसे हो सकता है? पुण्य का फल तो जड़ वस्तुएं हैं, उनमें तो सुख नहीं है परंतु वर्तमान में जो पुण्यभाव होता है, वह विकार है, उसमें यदि आत्मा का सुख माने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। पुण्य-पाप दोनों विकार हैं। विकार में आत्मा का सुख नहीं है।

शुभ में धर्म मानना महान् पाप है

भगवान की भक्ति का जो शुभराग होता है, वह राग निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी प्रकार से धर्म नहीं है। निश्चयधर्म तो आत्मा के निर्विकारस्वभाव को पहचानकर स्थिर हो जाना है परंतु जब तक संपूर्ण स्थिरता नहीं हो सकती, तब तक कुदेवादि के तरफ के अशुभ पाप भाव से बचने के लिये भक्ति आदि का शुभराग आता है और ज्ञानी के अभिप्राय में उस राग का नकार रहता है, इसलिये उपचार से व्यवहारधर्म कहा है परंतु जिसने उस राग में ही धर्म मान रखा है और राग को ही आदरणीय माना है, उसके धर्म तो नहीं है परंतु अपने वीतरागस्वभाव के अनादररूप मिथ्यात्व का अनंत पाप क्षण क्षण में उसके विपरीत मान्यता से होता है। राग को अपना धर्म मानना, सो अपने वीतरागस्वभाव का अनादर है, वह महान पाप है। यदि पर की कोई भी क्रिया मैं कर सकता हूँ अथवा पुण्य से मेरे स्वभाव को लाभ होता है—ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, वह क्रियाकांड करके और त्याग करके मर जाय तो भी वह साधु नहीं है, त्यागी नहीं है, श्रावक नहीं है, जैन नहीं है।

मिथ्यात्व का प्रभाव

पुण्य से मेरा ज्ञानस्वभाव पृथक् है और देहादि जड़ पदार्थ की क्रिया के आधार से मेरा धर्म नहीं है—ऐसी सच्ची समझ के बिना जीव अनंत बार जैन त्यागी, साधु हुआ और अनेक तरह से शुभकरनी की, किंतु मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी भैंसा उसके व्रत का सभी घास खा गया। अर्थात् मिथ्यात्व का ऐसा महा पाप है कि उसके सद्भाव में जीव चाहे जैसी शुभकरनी करे तो भी उसके किंचित् आत्मलाभ नहीं होता और वह अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

जीव चाहे जितने शुभभाव करे, बाह्य त्याग करे, महाव्रत पाले, उपवास करे, तो भी उन सब से उसका मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता क्योंकि वह सभी पुण्य करते हुये एक मिथ्यात्व का पाप बढ़ाता रहता है। मिथ्यात्व दूर करने का उपाय तो एकमात्र सच्ची समझ ही है। जिस प्रकार अंधकार दूर करने के लिये प्रकाश ही चाहिये; उसी प्रकार मिथ्यात्व दूर करने के लिये सच्ची समझ ही चाहिये। जिसे आत्मस्वभाव की समझ नहीं है और शुभराग में धर्म मानकर जो भक्ति, पूजा करता है, वह वीतराग की भक्ति, पूजा नहीं करता, किंतु राग की भक्ति करता है, और मिथ्यात्व का पोषण करता है।

मिथ्यात्व ही पाप है

समयसारजी में, चाहे त्यागी या मुनि हो किन्तु जो मिथ्यादृष्टि है तो उसे पापी ही कहा है। [कलश १३७]

अर्थः—'यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बंध होता नहीं (क्योंकि शास्त्र में सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं कहा है)' ऐसा मानकर जिसका मुख गर्व से ऊँचा तथा पुलकित (रोमांचित) हो गया है, ऐसे रागी जीव (-परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष-मोहभाववाले जीव) भले महाव्रतादिक का आचरण करें तथा समिति की उत्कृष्टता (वचन, विहार और आहार की क्रिया में यत्न से प्रवृत्ति करना) वह अवलंबन करे तो भी वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से वे सम्यक्त्व से रहित हैं।

भावार्थः—परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बंध नहीं होता' इस प्रकार मानता है, उसके सम्यक्त्व कैसा? वह व्रत-समिति पाले तो भी स्व-पर का ज्ञान नहीं होने से वह पापी ही है।

प्रश्न—'व्रत-समिति तो शुभकार्य है तो फिर व्रत-समिति का पालन करनेवाले जीव को पापी क्यों कहा?

उत्तर—सिद्धांत में पाप मिथ्यात्व को ही कहा है। जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभ-अशुभ सभी क्रिया को अध्यात्म में परमार्थरूप से पाप ही कहा गया है।

(समयसार, गुजराती पान २५६)

अनंतकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुये जैन संप्रदाय में आकर अनेक तरह से कुदेवादि की मान्यताओं का भी जीव ने त्याग किया, फिर भी शुभक्रिया में धर्म मानकर अटक गया और अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं किया। शुभक्रिया से परे अपने आत्मस्वभाव को जाना नहीं, इसलिये जीव का संसार परिभ्रमण नहीं रुका।

मिथ्यात्व क्या है? आत्मा त्रिकाल वस्तु है, उसमें ज्ञान इत्यादि अनंत गुण हैं और उन गुणों की समय-समय पर अवस्था होती है, एक समय की अवस्था में परलक्ष्य से जो विकार होता है, उस विकार को अपना स्वभाव मानना और संपूर्ण त्रिकाल शुद्ध स्वभाव को न मानना—ऐसी जो विपरीत मान्यता है, वही मिथ्यात्व है, यह मिथ्यात्व ही संसार का कारण है।

यह जैनधर्म है। सच्चे जैनधर्म का स्वरूप जीव समझ ले तो उसकी मुक्ति हुये बिना नहीं रहती किंतु सच्ची समझ न करे तो मात्र जैन संप्रदाय में आने से जीव का कल्याण नहीं होता। जैन तो भगवानस्वरूप है। जो वीतरागता और सर्वज्ञता है, सो जैनधर्म है। चिदानंद मूर्ति स्वतंत्र आत्मस्वभाव, सो जैनधर्म है। ऐसे आत्मस्वभाव को जीव न जाने तो जीव का मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता और न यथार्थ जैनत्व प्राप्त हो सकता है।

वस्तुस्वभाव की मर्यादा

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र वस्तुएं हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ करने में समर्थ नहीं है, यह जैन का सिद्धांत अर्थात् वस्तु का स्वरूप है। भगवान की वाणी सुनने से ज्ञान हुआ—ऐसा जो सचमुच मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वाणी, परवस्तु है, इसीलिये आत्मा का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो अपने स्वभाव में से ही प्रगट हुआ है, बाहर से परवस्तु के कारण नहीं प्रगट हुआ। आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है। राग-द्वेष यदि करे तो भी आत्मा ही करता है। कोई कर्म आत्मा को राग-द्वेष कराता है, यह बात गलत है। कर्म तो जड़ अचेतन वस्तु है। जड़कर्म, आत्मा को राग-द्वेष कैसे कराता है ? क्या जड़ वस्तु की अवस्था चेतनद्रव्य में घुसकर चेतन को विकार कराती है ? एक द्रव्य में दूसरा द्रव्य प्रवेश तो कर नहीं सकता और बिना प्रवेश के वह क्या करेगा ? जड़ और चेतन ये दो द्रव्य ही जुदे हैं, फिर उनमें कर्ता-कर्मपना हो ही नहीं सकता। दो द्रव्य भिन्न हैं, ऐसा कहना और वे एक-दूसरे का कुछ करते हैं, ऐसा कहना, यह बात ही परस्पर विरुद्ध है। जिसने दो पृथक् द्रव्यों के बीच में कर्ताकर्म संबंध माना है, उसने दो द्रव्य को एक माना है अर्थात् जिसने द्रव्य के स्वतंत्र स्वभाव को नहीं जाना, वह अज्ञानी है।

आत्मा और कर्म जुदे हैं, आत्मा चेतनस्वरूप वस्तु है, कर्म जड़ स्वरूप है; आत्मा अरूपी है, कर्म रूपी है। मेरे आत्मा में कर्म से कोई अवगुण नहीं होता। वर्तमान अवस्था में जो क्षणिक विकार है, वह कर्म ने नहीं कराया। मेरे त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार नहीं है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध अनादि अनंत हैं, एक समयमात्र को विकार मेरे स्वभाव में नहीं है। एक समय की संसारदशा को गौण करके जो द्रव्य को लक्ष्य में लिया जाय तो त्रिकाली द्रव्य तो मुक्तस्वरूप ही है, और द्रव्य के परिपूर्ण स्वरूप का स्वीकार ही जैनत्व है—ऐसा जो जानता है, वही यथार्थ दृष्टिवाला है। प्रत्येक द्रव्य भिन्न है और एक द्रव्य अपने द्रव्य से, अपने गुण से, और अपनी स्वाधीन पर्याय से परिपूर्ण स्वभाववाला है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय से वस्तु की स्वतंत्रता ही उसकी परिपूर्णता है और जो परिपूर्ण स्वरूप की प्रतीति है, वही सम्यग्दर्शन है। आत्मा की पर्याय स्वतंत्र हैं, पर्याय की स्वतंत्रता, सो पुरुषार्थ की स्वतंत्रता है, आत्मा के पुरुषार्थ को कोई रोक नहीं सकता।

शुभविकार से अविकारी धर्म नहीं होता

यह सच्चे सम्यग्दर्शन का उपाय कहा जाता है। इसे समझे बिना सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। व्यवहार करते-करते परमार्थ प्राप्त होगा, यह बात गलत है। जो शुभराग है, सो भी विकार है, वह

विकार से धीरे-धीरे दर्शन-ज्ञान प्राप्त होगा, यह बात भी त्रिकाल गलत है। शुभराग करते-करते धर्म होता है अर्थात् विकारी कारण से अविकारीकार्य प्रगट होता है, ऐसा माननेवाले को त्रिकाली अविकारी द्रव्य की या गुण की श्रद्धा नहीं है। धर्म तो अविकारीदशा है, यह अविकारी स्वभाव की श्रद्धा के बल से प्रगट होता है, किंतु विकार से प्रकट नहीं होता।

जिसने द्रव्य को स्वीकार किया उसके भव की शंका नहीं होती

''मैं आत्मा हूँ, आत्मद्रव्य और गुण तो शुद्ध ही है; पर्याय में जो विकार है, वह मेरा स्वभाव नहीं है। परवस्तु मुझे विकार नहीं कराती और एक समय का विकार दूसरे समय में दूर हो ही जाता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है''—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने अपने ज्ञान में द्रव्य का स्वीकार किया, उसके भव की शंका दूर हो गई, क्योंकि उसकी श्रद्धा में अकेला द्रव्य है, द्रव्य में विकार नहीं है। जिसको भव की शंका है, उसकी श्रद्धा का प्रभाव (जोर) विकार में अटका है, उसको निर्विकारस्वरूप की श्रद्धा नहीं है। यदि अविकारी आत्मस्वभाव की श्रद्धा हो तो भव की शंका कभी न हो। जिसके भवरहित स्वरूप की श्रद्धा हो गई, उसके वीर्य नि:संदेह हो गया, जिसका वीर्य अभी भवरहित की नि:संदेता में काम नहीं करता और भव की शंका में ही झूल रहा है, वह भवरहित होने का पुरुषार्थ किसके बल से करेगा? संदेह में अटका हुआ वीर्य आगे नहीं बढ़ सकेगा। जिसको भव की शंका है, उसको आत्मा की श्रद्धा नहीं है और जिसको आत्मा की श्रद्धा है, उसको भव की शंका नहीं है।

शंका—केवली भगवान ने जितने देखे हों, उतने भव तो होते हैं न? अपने को क्या खबर पड़ सकती है?

उत्तर—जिसने अपने ज्ञान में केवली भगवान का और उनकी परिपूर्ण सामर्थ्य का निर्णय किया, उस ज्ञान में भव की शंका होती ही नहीं। जिस ज्ञान ने यह निर्णय किया कि 'केवली भगवान परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है और भवरहित है' वह ज्ञान, अपने भवरहितपने का नि:संदेह निर्णय करता है। केवली भगवान तीन काल और तीन लोक को एक समय में विकार रहित जानते हैं, ऐसी एक पर्याय की परिपूर्ण सामर्थ्य है और मेरा स्वभाव भी परमार्थ से वैसा ही है, ऐसा निर्णय करने में ज्ञान का अनंत पुरुषार्थ आ गया। जिसके ज्ञान में अनंत पुरुषार्थ आ गया, उसके भव होता ही नहीं है।

अनंत आत्माएं हैं। उनमें प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण; उनमें एक ज्ञानगुण और उस गुण की अनंत अवस्थायें; उसमें भी एक समय की एक पूर्ण अवस्था, सो केवलज्ञान और वह केवलज्ञान

का अनंत सामर्थ्य है—ऐसा जिसने यथार्थरूप से स्वीकार किया, वह जीव सम्यग्दृष्टि ही होता है और सम्यग्दृष्टि को भव की शंका होती ही नहीं। श्री प्रवचनसारजी में कुंदकुंदाचार्यदेव ने कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत गुणत्त पज्जय ते हिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहोखलु जादि तस्स लयं॥ *(अध्याय १, गाथा ८०)*

अर्थ—जो जीव द्रव्य-गुण और पर्याय से अरिहंत का स्वरूप जानता है, उसका मोह वास्तव में नाश को प्राप्त होता है।

केवलज्ञान तो आत्मा का स्वभावभाव है। जिसने केवलज्ञानरूपी स्वभावभाव के सामर्थ्य का विश्वास किया, उसको भव की शंका ही नहीं है, क्योंकि स्वभावभाव में भव नहीं है। यदि भव की शंका हो तो उसको केवली की श्रद्धा नहीं है और जहाँ केवली की श्रद्धा नहीं है, वहाँ 'केवली ने देखा होगा' इस प्रकार वह केवली के नाम से मात्र बात करता है परंतु केवली की उसको श्रद्धा नहीं है। यदि केवली की श्रद्धा करे तो उसको 'केवली भगवान ने मेरा अनंत भव देखा होगा तो?' ऐसे संदेह का विकल्प ही नहीं उठता है।

पहले हम तुमसे पूछना चाहते हैं कि जिनभगवान को तू मानता है कि नहीं? जो तू जिनभगवान को मानता है तो उसके भव है कि नहीं? [जिनभगवान को भव नहीं है] जिन भगवान आत्मा है कि नहीं? [आत्मा ही हैं] तू आत्मा है कि नहीं [आत्मा ही हूँ] जिन भगवान आत्मा है और तुम भी आत्मा ही हो तो दोनों आत्माओं का स्वभाव समान है या नहीं? हाँ, सभी आत्माओं का स्वभाव समान ही है। बस, सभी आत्माओं का स्वभाव समान है अर्थात् जैसा जिनभगवान का स्वभाव भवरहित है, वैसा ही तेरा स्वभाव भी भवरहित है, जिनेन्द्रभगवान के भव नहीं है और तेरे भी भव नहीं है; इस प्रकार जिनभगवान की श्रद्धा होने पर अपनी आत्मा की श्रद्धा होती है और भव की शंका नहीं रहती।

द्रव्य-गुण में भव अथवा भव का कारण विकार नहीं है। विकार एक समयमात्र का है वह मेरा त्रिकाल स्वरूप नहीं है। मैं तो अविकारस्वभावी हूँ; इस प्रकार स्वभाव की श्रद्धा के बल से जिसने यह माना कि विकार, आत्मा का स्वरूप नहीं है, उसकी श्रद्धा में भव ही न रहा, अर्थात् उसके भव की शंका ही न रही, स्वभाव की श्रद्धा के बल से वह अल्पकाल में भवरहित हो जायगा....

आत्मा में भव नहीं है, जिसको आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान हुआ, उसको भव की शंका न रही। श्रद्धा में तो अभव (भवरहित) स्वभाव है; चारित्रगुण में एक समय के लिये विकार है, वह पुरुषार्थ की अशक्ति है, परंतु चारित्र का जो क्षणिक विकार है, वह भी स्वभाव नहीं है। चारित्र गुण तो प्रतीति में पूर्ण निर्मल आया है अर्थात् वर्तमान विकार है, उसे यद्यपि ज्ञान जानता है किंतु उस विकार को अपना नहीं मानता। ज्ञान, त्रिकाली शुद्ध चारित्रगुण को जानता है। 'श्रद्धा ने जिस द्रव्य को प्रतीति में लिया है, उसमें चारित्रगुण परिपूर्ण शुद्ध ही आया है' इस प्रकार ज्ञान जानता है, तथा पुरुषार्थ की जो अल्प अशक्ति है, उसको भी जानता है परंतु पुरुषार्थ की कमजोरी भी स्वभाव नहीं है। दृष्टि में तो चारित्र, वीर्य वगैरह से परिपूर्ण स्वभाव ही आया है, इस प्रकार ज्ञान स्वीकार करता है—इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पुरुषार्थ की कचाई से एक दो भव हों तो उसको ज्ञान जानता है। पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान के बल से पुरुषार्थ बढ़ता ही जाता है और स्वभाव की तरफ परिणमन ढलता ही जाता है, फिर उसको बहुत से भव होते ही नहीं। अल्प काल में ही स्वभाव के बल से पूर्ण पुरुषार्थ प्रगट होगा। इस प्रकार सच्ची श्रद्धा-ज्ञानवाले को भव नहीं होते तथा उनके भव की शंका नहीं रहती। ★

श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका का

मंगलाचरण

जिस मंगल ग्रंथ की मुमुक्षुओं को स्वाध्याय के लिये अत्यंत आवश्यकता है उस ग्रंथ की गुजराती टीका माननीय श्री रामजीभाई ने की है जो गुजराती समझने वाले भाई-बहिनों के लिये महान सौभाग्य का कारण है, उस मोक्षशास्त्र का मंगलाचरण गुजराती टीका के साथ यहाँ दिया जाता है जिससे इस ग्रंथ की महत्ता प्रगट होती है। —*प्रकाशक*

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

अर्थः—मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों को नाश करनेवाले, और विश्व के समस्त तत्त्वों के जाननेवाले को उन गुणों की प्राप्ति के लिये वंदना करता हूँ।

टीका

(१) इस शास्त्र को प्रारंभ करने से पूर्व संक्षेप में यह जानना आवश्यक है कि इस शास्त्र का विषय क्या है ?

(२) आचार्यदेव ने इस शास्त्र का नाम 'मोक्षशास्त्र' अथवा 'तत्त्वार्थसूत्र' रखा है। जगत् के जीव अनंत प्रकार के दुःख भोग रहे हैं, उन दुःखों से सदा के लिये मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करने को वे अहर्निश प्रयत्न कर रहे हैं किन्तु उनके वे उपाय गलत हैं, इसलिये जीवों का दुःख दूर नहीं होता। एक अथवा दूसरे रूप में दुःख बना ही रहता है। जीव दुःखों की परंपरा से क्यों कर मुक्त हो, उसका उपाय और उसका वीतरागी विज्ञान इस शास्त्र में बताया गया है; इसीलिये इसका नाम मोक्षशास्त्र रखा गया है। मूलभूत भूल के बिना दुःख नहीं हो सकता और उस भूल के दूर होने पर सुख हुये बिना नहीं रहता – ऐसा अबाधित सिद्धांत है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझे बिना यह भूल दूर नहीं होती, इसलिये वस्तु का यथार्थ स्वरूप इस शास्त्र में समझाया गया है और इसीलिये इसका नाम 'तत्त्वार्थसूत्र' भी रखा गया है।

(३) जीव को वस्तु के यथार्थ स्वरूप के संबंध में यदि विपरीत मान्यता न हो तो ज्ञान में भूल नहीं हो सकती। जहाँ मान्यता सच्ची होती है, वहाँ ज्ञान भी सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान पूर्वक होनेवाले सच्चे वर्तन के द्वारा ही जीव दुःख से मुक्त हो सकते हैं, यह सिद्धांत आचार्यदेव ने इस शास्त्र को प्रारंभ करते ही प्रथम अध्याय के पहले सूत्र में बतलाया है।

(४) 'स्वयं कौन है ?' इस संबंध में जगत् के जीवों की बहुत बड़ी भूल चली आ रही है। बहुत से जीव, शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं; इसलिये वे शरीर की रक्षा के लिये अनेक प्रकार से सतत प्रयत्न करते रहते हैं। जीव, शरीर को अपना मानता है; इसलिये वह यह भी मानता है कि जड़ अथवा चेतन पदार्थों की ओर से शरीर को सुख, सुविधा मिलती है। और इसीलिये उसे उनकी ओर राग भाव होता है और जब वह जड़ अथवा चेतन पदार्थों की ओर से प्रतिकूल होता देखता है, तब उस विपरीत मान्यता के कारण उसे उनकी ओर द्वेष होता है। जीव की इन विपरीत मान्यताओं के कारण जीव को निरंतर आकुलता बनी रहती है।

(५) जीव की इस महान भूल को शास्त्र में मिथ्यादर्शन कहा गया है। जहाँ मिथ्या मान्यता

होती है, वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या होते हैं; इसलिये मिथ्यादर्शनरूपी महा भूल को महापाप भी कहा गया है। मिथ्यादर्शन महाभूल है और वह सर्व दु:खों का महा बलवान मूल है। जीवों का इस प्रकार का लक्ष्य नहीं है, इसलिये उन्हें उस ओर लक्ष्य कराने के लिये और उस भूल को दूर करके जीवों को अविनाशी सुख की ओर कदम बढ़ाने के लिये आचार्य भगवान ने शास्त्र के प्रारंभ में सर्व प्रथम 'सम्यग्दर्शन' शब्द का प्रयोग किया है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही उस समय ज्ञान सच्चा ज्ञान हो जाता है, इसलिये दूसरा शब्द 'सम्यग्ज्ञान' कहा है और सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है; इसलिये आगे चलकर तीसरा 'सम्यक्चारित्र' कहा है। इस प्रकार तीन शब्दों के प्रयोग होने पर लोग कहीं यह न समझ बैठें कि सच्चा सुख प्राप्त करने के तीन मार्ग हैं; इसलिये पहले सूत्र में यह बता दिया गया है कि तीनों की एकता मोक्षमार्ग है।

(६) जीव को सच्चा सुख चाहिये हो तो प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिये। जगत् के कौन-कौन से पदार्थ हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? उनका कार्यक्षेत्र क्या है ? जीव क्या है और वह क्यों दु:खी होता है ? इसका यथार्थ ज्ञान होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसलिये सात तत्त्वों के द्वारा आचार्यदेव ने दश अध्यायों में वस्तुस्वरूप बताया है।

(७) इस शास्त्र के दश अध्यायों में निम्नलिखित विषय लिये गये हैं:—

१—मोक्ष का उपाय और जीव के ज्ञान की अवस्थायें।

२—जीव के भाव, लक्षण और जीव का शरीर के साथ का संबंध।

३-४—विकारी जीव के रहने के क्षेत्र, इन अध्यायों में बतलाकर प्रथम चार अध्यायों में जीवतत्त्व का वर्णन किया गया है।

५—इस अध्याय में अन्य अजीवतत्त्वों का वर्णन किया गया है।

६-७—इन अध्यायों में जीव के नवीन विकारभाव (आस्रव) तथा उन का निमित्त पाकर जीव का सूक्ष्म जड़ कर्म के साथ होनेवाला संबंध बताया गया है। इस प्रकार तीसरे आस्रवतत्त्व का वर्णन किया गया है।

८—इस अध्याय में बताया गया है कि जीव को जड़कर्म के साथ किस प्रकार बंध होता है और वह जड़ कर्म, जीव के साथ कितने समय रहता है ? इस प्रकार इस अध्याय में चौथे बंधतत्त्व का वर्णन है।

९—इस अध्याय में बताया गया है कि जीव को अनादि काल से कभी न होनेवाले धर्म का

प्रारंभ संवर से होता है। जीव की यह अवस्था होने पर उसके सच्चे सुख का प्रारंभ होता है और क्रमशः शुद्धि के बढ़ने पर विकार दूर होता है, जिससे निर्जरा अर्थात् जड़कर्म के साथ के बंध का धीरे-धीरे अभाव होता है। इस प्रकार ९ वें अध्याय में पाँचवे और छठे संवर और निर्जरातत्त्व का वर्णन किया गया है।

१०—जीव की शुद्धि की पूर्णता सर्व दुःखों से अविनाशी मुक्ति और संपूर्ण पवित्रता मोक्ष तत्त्व है, इसलिये आचार्यदेव ने इस अध्याय में मोक्षतत्त्व का वर्णन किया है।

आज यह तीर्थंकर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान की ही

ध्वनि करती आ रही है

—परम पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन—

[यह प्रवचन श्रुतपंचमी २४७१ के दिन किया गया था, इसका पहले का हिस्सा आत्मधर्म प्रथम वर्ष अंक तीन में पृष्ठ ४३-४४ पर छपा हुआ है।]

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किसी संयोग के कारण से नहीं है, यदि ऐसे स्वाधीन ज्ञानस्वभाव को न जाने तो धर्म नहीं होता। धर्म कहीं बाह्य में नहीं किंतु अपना ज्ञानानंदस्वभाव ही धर्म है, इसमें तो समस्त शास्त्रों का रहस्य आ जाता है। यह बात भी इसमें आ गई कि कोई किसी का कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। जड़ इंद्रिय, आत्मा के ज्ञान की अवस्था नहीं करती और आत्मा का ज्ञान, पर का कुछ नहीं करता; इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की स्वतंत्रता सिद्ध हो गई।

सभी सम्यक् मतिज्ञानियों का ज्ञान बिना निमित्त के अवलंबन सामान्यस्वभाव के अवलंबन से कार्य करता है, इसलिये सर्व निमित्तों के अभाव में-संपूर्ण असहाय होकर सामान्यस्वभाव के

अवलंबन से विशेषरूप से जो केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है, उसका निर्णय वर्तमान मतिज्ञान के अंश द्वारा उसे हो सकता है। यदि पूर्ण असहाय ज्ञानस्वभाव, मतिज्ञान के निर्णय में न आये तो वर्तमान विशेष अंशरूपज्ञान (मतिज्ञान) पर के अवलंबन के बिना प्रत्यक्षरूप है, यह निर्णय भी न हो। सामान्य स्वभाव के आश्रय से जो विशेषरूप मतिज्ञान प्रगट हुआ है, उस मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अंश प्रगट हुआ है, वह अंशी के आधार के बिना प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये अंशी के निर्णय के बिना अंश का निर्णय नहीं होता।

अहो! श्रुत पंचमी के दिन इस जयधवला में जो केवलज्ञान का रहस्य भरा गया है, उसकी मुख्य दो विशेषताऐं हैं, जिनकी स्पष्टता प्रगट होती है (१) अपने ज्ञान की विशेषरूप अवस्था परावलंबन के बिना स्वाधीन भाव से है (२) उस स्वाधीन अंश में समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष है यह दो मुख्य विशेषताऐं हैं।

सामान्य स्वभाव की प्रतीति करता हुआ जो वर्तमान निर्मल स्वावलंबी ज्ञान प्रगट हुआ, वह साधक है और वह पूर्ण साध्यरूप केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जानता हुआ प्रगट होता है। वह साधक ज्ञान स्वाधीनभाव से अपने कारण से भीतर के सामान्य ज्ञान की शक्ति के लक्ष्य से विशेष-विशेषरूप में परिणमन करता हुआ साध्य केवलज्ञान के रूप में प्रगट होता है, उसमें कोई बाह्यावलंबन नहीं है किन्तु सामान्य ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन है।

इसे जानना ही धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा के ही पास है। अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव होता है, उसे ज्ञान जान लेता है किंतु उसका अवलंबन ज्ञान नहीं मानता अर्थात् सर्व निमित्त के बिना पूर्ण स्वाधीन केवलज्ञान का निर्णय करता हुआ और प्रतीति में लेता हुआ स्वाश्रित मतिज्ञान, सामान्य स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होता है; इस प्रकार ज्ञान का कार्य परावलंबन से नहीं होता किंतु स्वाधीन स्वभाव के अवलंबन से होता है, इसमें ज्ञान की स्वतंत्रता बताई गई है।

ज्ञान की तरह श्रद्धा की स्वतंत्रता

आत्मा में श्रद्धागुण त्रिकाल है। सामान्य श्रद्धागुण का जो विशेष है, सो सम्यग्दर्शन है। श्रद्धागुण का वर्तमान यदि देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि पर के आश्रय से परिणमन करे तो उस समय श्रद्धागुण ने कौन सा विशेष कार्य किया? श्रद्धा, सामान्य गुण है; उसका विशेष, सामान्य के अवलंबन से ही होता है। सम्यग्दर्शनरूप विशेष, पर के अवलंबन से कार्य नहीं करता किन्तु सामान्य श्रद्धा के अवलंबन से ही उसका विशेष प्रगट होना होता है। सम्यग्दर्शन उस श्रद्धागुण की

विशेष दशा है। श्रद्धा, गुण है और सम्यग्दर्शन, पर्याय है। श्रद्धागुण के अवलंबन से सम्यग्दर्शनरूप विशेष दशा प्रगट होती है। यदि देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि पर के अवलंबन से श्रद्धा का विशेष कार्य होता हो तो सामान्यश्रद्धा का उस समय विशेष क्या है? विशेष के बिना सामान्य कदापि नहीं होता। आत्मा की श्रद्धा की वर्तमान अवस्था के रूप में जो कार्य होता है, वह त्रैकालिक श्रद्धा नाम के गुण का है, वह कार्य किसी के पर के अवलंबन से नहीं किंतु सामान्य का विशेष प्रगट हुआ है। विशेष के बिना सामान्य श्रद्धा ही नहीं हो सकती।

आनंदगुण की स्वाधीनता

ज्ञान-श्रद्धागुण के अनुसार आनंदगुण के संबंध में भी यही बात है। वह आत्मा का वर्तमान आनंद यदि पैसा इत्यादि पर के कारण से परिणमन करे तो उस समय आनंदगुण ने स्वयं वर्तमान विशेष कौन सा कार्य किया है? यदि पर से आनंद प्रगट हुआ तो उस समय आनंदगुण का विशेष कार्य कहाँ गया? अज्ञानी ने पर में आनंद माना, उस समय भी उसका आनंदगुण स्वाधीनतापूर्वक कार्य करता है। अज्ञानी ने आनंद का वर्तमान कार्य उलटा माना अर्थात् आनंदगुण का विशेष उसे दुःखरूप परिणमित होता है; आनंद, पर से प्रगट नहीं होता किंतु संयोग और निमित्त के बिना आनंद नाम के सामान्यगुण के अवलंबन से वर्तमान आनंद प्रगट होता है, इसके समझ लेने पर लक्ष्य का जोर पर के ऊपर न जाकर सामान्य स्वभाव पर जाता है और उस सामान्य के अवलंबन से विशेषरूप आनंददशा प्रगट होती है। सामान्य आनंदस्वभाव के अवलंबन से प्रगट हुआ आनंद का अंश, पूर्ण आनंद की प्रतीति को लेकर प्रगट होता है। यदि आनंद के अंश में पूर्ण की प्रतीति न हो तो अंश आया कहाँ से?

चारित्र-वीर्य इत्यादि सर्व गुणों की स्वाधीनता

इसी प्रकार चारित्र वीर्य इत्यादि समस्त गुणों का विशेष कार्य, सामान्य के अवलंबन से ही होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि निमित्त के अवलंबन से कार्य करता हो तो अंतरंग के सामान्य पुरुषार्थस्वभाव ने क्या किया? क्या सामान्यस्वभाव, विशेष के बिना ही रहा? विशेष के बिना सामान्य रहता हो, सो तो बन नहीं सकता। प्रत्येक गुण का वर्तमान (विशेष अवस्थारूप कार्य) सामान्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। कर्म, पुरुषार्थ रोकता है, यह बात ही गलत होने से खंडित हो गई। किसी भी गुण का कार्य यदि निमित्त के अवलंबन से अथवा राग के अवलंबन से होता हो तो उस समय सामान्यस्वभाव का विशेष कार्य न रहे और यदि विशेष न हो तो सामान्यगुण

ही सिद्ध नहीं होते। सभी गुण त्रिकाल हैं; उनका कार्य किसी निमित्त अथवा राग के अवलंबन से ज्ञानियों के नहीं होता किन्तु अपने ही सामान्य के अवलंबन से होता है। यह स्वाधीन स्वरूप जिसके जम गया, उसे पूर्ण की प्रतीतियुक्त गुण का अंश प्रगट होता है। जिसके पूर्ण की प्रतीतिसहित ज्ञान प्रगट होता है, उसकी अल्प काल में मुक्ति अवश्य हो जाती है। जिस सामान्य के बल से एक अंश प्रगट हुआ, उसी सामान्य के बल से पूर्णदशा प्रगट होती है। विकल्प के कारण सामान्य की विशेष अवस्था नहीं होती। यदि विकल्प के कारण विशेष होता हो तो विकल्प का अभाव होने पर विशेष का भी अभाव हो जाय। वर्तमान विशेष, सामान्य से ही प्रगट होता है, विकल्प से नहीं; इसे समझना ही धर्म है। प्रत्येक द्रव्य की स्वाधीनता की यह स्पष्ट बात है। दो और दो चार जैसी सीधी सरल बात है, उसे न समझकर उसकी जगह यदि जीव इस प्रकार पराश्रयता माने कि सब कुछ निमित्त से होता है और एक दूसरे का करता है तो यह सब गलत है, यह उसकी मूल भूल है। यदि पहले ही दो और दो तीन मानने की भूल हो गई हो तो उसके बाद की भी सभी भूल होती जायगी। इसी प्रकार मूल वस्तुस्वभाव की मान्यता में जिसकी भूल हो, उसका सब गलत है।

स्वाधीनता से प्रगट हुआ अंश पूर्ण को प्रत्यक्ष करता है

परद्रव्य जगत में भले हों, परनिमित्त भले हों, जगत् में सर्व वस्तुओं का अस्तित्व है, किन्तु वह कोई वस्तु मेरी विशेष अवस्था करने के लिये समर्थ नहीं है। मेरे आत्मा के सामान्य स्वभाव का अवलंबन करके मेरी विशेष अवस्था होती है–वह स्वाधीन है। और यह स्वाधीनता से प्रगट होनेवाला विशेष ही पूर्ण विशेषरूप केवलज्ञान का कारण है। जो विशेष प्रगट होता है, वह पूर्ण को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट होता है।

प्रश्न—वर्तमान अंश पूर्ण प्रत्यक्ष कैसे होता है ?

उत्तर—जहाँ विशेष को पर का अवलंबन नहीं रहता और मात्र सामान्य का अवलंबन रहता है, वहाँ प्रत्यक्ष होता है। यदि निमित्त की बात करो तो परोक्ष में आयगा किन्तु जहाँ निमित्त अथवा विकार रहित मात्र सामान्यस्वभाव का अवलंबन है, वहाँ विशेष प्रत्यक्ष ही होता है। अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष ही होता है। यदि अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो अंश ही सिद्ध न हो। 'यह अंश है' यह तभी निश्चित हो सकता है, जब अंशी प्रत्यक्ष हो। यदि अंशी अर्थात् पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो अंश भी सिद्ध न हो।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी वास्तव में तो सामान्य के अवलंबन से होने के कारण प्रत्यक्ष हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को जो परोक्ष कहा है, सो वह तो 'पर को जानते समय इंद्रिय का निमित्त है' इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करने के लिये वह कथन किया है किन्तु स्व को जानने पर तो वह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है।

परावलंबनरहित सामान्य के अवलंबन से मेरा विशेष ज्ञान होता है, इस प्रकार जिसके सामान्यस्वभाव की प्रतीति जम गई, उसका विशेष ज्ञान दूसरे को जानते समय भी स्व के अवलंबन से युक्त जानता है; इसलिये वास्तव में तो वह भी प्रत्यक्ष ही है। जिसके निमित्त रहित स्वाधीन ज्ञानस्वभाव प्रतीति में जम गया, उसके समस्त ज्ञान, प्रत्यक्ष ही है।

जिस ज्ञान में यह निश्चय किया कि 'यह खंभे का एक छोर है' उस ज्ञान में सारा खंभा ध्यान में आ ही गया है, जहाँ यह निश्चय किया कि 'यह पृष्ठ समयसार का है' वहाँ सारा समयसार ग्रंथ है और उसका पृष्ठ है; इस प्रकार ज्ञान के निर्णय में पूर्ण और अंश दोनों आ गये। 'यह समयसार का पृष्ठ है' यह कहने पर यह भी निश्चय हो गया कि उसके आगे-पीछे के सभी पृष्ठ किसी अन्य ग्रंथ के नहीं हैं किन्तु समयसार के ही हैं; इस प्रकार सारा ग्रंथ ख्याल में आ जाता है। सारे ग्रंथ को ख्याल में लिये बिना यह निश्चय नहीं हो सकता कि 'यह अंश उस ग्रंथ का है;' इसी प्रकार 'यह मतिज्ञान उस केवलज्ञान का अंश है' इस प्रकार समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष लक्ष्य में आये बिना निश्चित नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि ज्ञान के अनुद्घटित अन्य अंश तो अभी शेष हैं न? उसका समाधान—यहाँ सारे अवयवी-पूर्ण की बात है, दूसरे अंशों की बात नहीं है। यहाँ पर अंश के साथ अंशी का अभेद बताया है। 'यह ज्ञान का भाग है, वह पूर्ण ज्ञान का अंश न हो तो वह अंश है' यह कहाँ से निश्चय किया? वर्तमान अंश के साथ अंशी अभिन्न है, वर्तमान अंश में सारा अंशी अभेदरूप में लक्ष्य में आ गया है; इसलिये जीव यह प्रतीति करता है कि यह अंश इस अंशी का है।

वर्तमान अंश और पूर्ण अंशी का अभेद भाव है। यहाँ पर दूसरे अंश के भेद भाव की बात नहीं ली गई। अंशी में सब अंश आ गये हैं। यहाँ पर मतिज्ञान और केवलज्ञान का अभेद भाव बताया है। मतिज्ञान अंश है और केवलज्ञान अंशी है, अंश-अंशी अभिन्न है, इसलिये यह समझना चाहिये कि मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष आ जाता है।

स्वाधीनता की प्रतीति में केवलज्ञान

आचार्य भगवान ने आत्मा को स्वाधीन पूर्ण स्वभाव बताया है। तू आत्मा है, तेरा

ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभाव की विशेष अवस्था तेरे अपने सामान्यस्वभाव के अवलंबन से होती है। सामान्यस्वभाव के अवलंबन से विशेषरूप से जो मतिज्ञान प्रगट हुआ है, वह पूर्ण केवलज्ञान के साथ अभेदस्वभाववाला है। निमित्त और राग के अवलंबन से रहित सामान्य के अवलंबनवाला ज्ञान, स्वाधीन स्वभाववाला है। मतिज्ञान और केवलज्ञान के बीच के भेद को वह नहीं गिनता, जिसके यह बात जम जाती है, उसे केवलज्ञान के बीच कोई विघ्न नहीं आ सकता। यह तीर्थंकर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान का घोष करती आई हैं। आचार्यदेवों के केवलज्ञान का ही घोष हो रहा है। बीच में भव ग्रहण होता है और केवलज्ञान में बाधा आती है, यह बात यहाँ बिल्कुल गौण कर दी गई है। यहाँ तो सामान्यस्वभाव के लक्ष्य से जो अंश प्रगट हुआ है; उस अंश के साथ ही केवलज्ञान अभेद है, इस प्रकार केवलज्ञान की बात की गई है। केवलज्ञानियों की वाणी केवलज्ञान का घोष करती हुई आई है और केवलज्ञान के उत्तराधिकारी आचार्यों ने यह बात परमागम शास्त्रों में संग्रह की है। तू भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की तैयारी में है, तू अपने स्वभाव के बल पर हाँ कह। अपने स्वभाव की प्रतीति के बिना पूर्ण प्रत्यक्ष का विश्वास जागृत नहीं होता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, कभी भी बिना विशेष के ज्ञान नहीं होता। जिस समय विशेष में थोड़ा ज्ञान था, वह अपने से ही था और जो विशेष में पूरा होता है, वह भी अपने से ही होता है, उसमें किसी पर का कारण नहीं है। इस प्रकार जीव यदि ज्ञानस्वभाव की स्वाधीनता को जान ले तो वह पर में न देखकर अपने में ही लक्ष्य करके पूर्ण का पुरुषार्थ करने लगे।

सामान्य किसी भी समय निर्विशेष नहीं होता, प्रत्येक समय सामान्य का विशेष कार्य तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो तो भी वह सामान्य के परिणमन से होता है। निगोद से लेकर केवलज्ञान तक आत्मा की सर्व परिणति अपने से ही है; इसप्रकार जहाँ स्वतंत्रता की ध्वनि अपने प्रतीति में आती है, वहीं परावलंबन दूर हो जाता है। मेरी परिणति मुझसे ही कार्य कर रही है इस प्रकार की प्रतीति में आवरण और निमित्त के अवलंबन का चूरा हो जाता है।

आत्मा के अनंतगुण स्वाधीनतया कार्य करते हैं। कर्ता, भोक्ता, ग्राहकता, स्वामित्व इत्यादि अनंतगुणों की वर्तमान परिणति, निमित्त और विकल्प के आश्रय के बिना अपने आप ही प्रगट होती है। जो यह मानता है, वह जीव को गुण के अवलंबन से प्रगट हुआ अंश पूर्णता को प्रत्यक्ष करनेवाले अंश के साथ ही पूर्ण को अभिन्न मानता है एवं अंश और पूर्णता के बीच के भेद को दूर कर देता है, इसलिये जो भाव प्रगट होता है, वह भाव यथार्थ और अप्रतिहत भाव है।

इस बात से इनकार करनेवाला कौन है ? यदि कोई इनकार करे तो वह अपना इनकार कर सकता है, इस बात से इनकार करनेवाला कोई है ही नहीं। निर्ग्रंथ संत मुनि ऐसे अप्रतिहत भाव से उद्यत होते हैं कि जिससे ज्ञान की धारा में भंग पड़े बिना निर्विघ्नतया केवलज्ञानरूप हो जाते हैं। निर्ग्रंथ आचार्यों ने इस दिन (श्रुत पंचमी) को बड़े ही उत्सवपूर्वक मनाया था।

मेरे ज्ञान के मति-श्रुत के अंश स्वतंत्र हैं; उन्हें किसी पर का अवलंबन नहीं है, ऐसी प्रतीति होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष्य नहीं रहता। सामान्यस्वभाव की ओर ही लक्ष्य रहता है। इस सामान्यस्वभाव के बल से जीव को पूर्णता का पुरुषार्थ करना होता है। पहले पर के निमित्त से ज्ञान का होना माना था, तब वह ज्ञान परलक्ष्य में अटक जाता था किन्तु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है—ऐसी प्रतीति होने पर, ज्ञान को कहीं भी प्रतिरोध नहीं रहता।

मेरे ज्ञान में पर का अवलंबन अथवा निमित्त नहीं है अर्थात् केवलज्ञान वर्तमान प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार सामान्यस्वभाव के कारण से जो ज्ञान परिणमित होता है, उस ज्ञानधारा को तोड़नेवाला कोई है ही नहीं। अर्थात् स्वाश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है, वह केवलज्ञान की ही पुकार करता हुआ प्रगट हुआ है। वह ज्ञान अल्पकाल ही में केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। ज्ञान के अवलंबन से ज्ञान कार्य करता है—ऐसी प्रतीति में समस्त केवलज्ञान समा जाता है।

पहले ज्ञान की अवस्था अल्प थी, पश्चात् जब वाणी सुनी, तब ज्ञान बढ़ा किन्तु वह वाणी के सुनने से बढ़ा है, यह बात नहीं है लेकिन जहाँ ज्ञान की अवस्था बढ़ी, वहाँ सामान्य स्वभावी ज्ञान ही अपने पुरुषार्थ से कषाय को कम करके विशेषरूप में हुआ है अर्थात् अपने कारण से ही ज्ञान हुआ है-ऐसी प्रतीति होने पर, स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव के बल से पूर्ण ज्ञान का पुरुषार्थ करना चाहिये। ज्ञानियों को स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बल से वर्तमान हीन दशा में भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान प्रतीति में आ गया है। अज्ञानी के स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती, इसलिये उसे यह ज्ञान नहीं होता कि पूरी अवस्था कैसी होती है ?—और उसे पूर्ण शक्ति की प्रतीति नहीं होती।

अनेक प्रकार के निमित्त बदलते जाते हैं और उसने निमित्त का अवलंबन माना है; इसलिये उसके निमित्त का लक्ष्य बना रहता है और स्वतंत्र ज्ञान की प्रत्यक्षता की श्रद्धा उसके नहीं जमती। 'मेरा वर्तमान ज्ञान मुझसे होता है, मेरी शक्ति पूर्ण है और इस पूर्ण शक्ति के आश्रय से पुरुषार्थ के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है' ज्ञानी को इस प्रकार की प्रतीति है। जिस ज्ञान के अंश से ज्ञानस्वभाव

की प्रतीति की, वह ज्ञान, केवलज्ञान को प्रत्यक्ष करता हुआ ही प्रगट हुआ है, अर्थात् बीच में जो शेष है-भेद पड़ा हुआ है, वह दूर होकर ज्ञान पूर्ण ही होता है; इस प्रकार सामान्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने पर, पूर्ण में लक्ष्य लेता हुआ जो विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है, वह बीच के भेद को (मति और केवलज्ञान के बीच के भेद को) उड़ाता हुआ पूर्ण के साथ ही अभेद भाव को करता हुआ प्रगट हुआ है। बीच में एक भी भव नहीं है। अवतार भी किसके है, वर्तमान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं, उस बल पर, बीच में जो एकाध भव है, उससे आचार्य ने इनकार किया है। आचार्यदेव ने अत्रुटतया केवलज्ञान की ही बात कही है। यह बात जीस के बैठ जाती है, उसे भव कदापि नहीं होता। ★

प्रेरणा—

मुझे संपूर्ण विश्वास था कि आत्मधर्म-हिंदी के १५०० ग्राहक एक साल के प्रकाशन के बाद जरूर हो जायंगे, लेकिन अनियमित प्रगट होने से वह धारणा असफल रही। आज आत्मधर्म के ८०० ग्राहक हैं, यदि प्रत्येक ग्राहक एक नया ग्राहक का नाम और चंदा भेज दें तो फौरन १५०० ग्राहक हो जाय। मैं आशा रखता हूँ कि कृपालु ग्राहकगण इतना सहयोग अवश्य देंगे। *—रवाणी*

—पहले निश्चय कर कि तुझे क्या करना है ?—

आत्महित या धींगाधींगी

१—तुझमें 'ऊंहुं' कहाँ से उत्पन्न हुआ यह देख, अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा का नकार किस ज्ञान में से उत्पन्न हुआ है, इसकी जांच कर। जो ज्ञानस्वरूप आत्मा का नकार करता है, वह ज्ञान स्वयं ही ज्ञानस्वरूपी आत्मा है, इसलिये तू अपने ज्ञानस्वरूप की 'हाँ' कह और अपने 'ऊंहुं' को छोड़ दे। (कलश ३४)

२—ज्ञायकस्वरूप का यथार्थ निर्णय हो गया कि पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो ज्ञायक हूँ, यह निर्णय होने पर पुरुषार्थ सम्यक्रूप से परिणमन कर देता है और पुरुषार्थ के द्वारा

क्रमक्रम से ज्ञायकस्वरूप की दृढ़ता होने पर पुण्य-पाप का अभाव हो जाता है और ज्ञायक स्वरूप की पूर्णता प्रगट हो जाती है। (कलश ३४)

तीव्र राग अथवा मंद राग आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो तीव्र राग अथवा मंद राग दोनों से परे वीतरागस्वरूप ज्ञायक है।

३—पास या दूर रहनेवाली परवस्तु अथवा परभाव मात्र तेरे ज्ञान करने के लिये हैं। पुण्य-पाप के भाव भी क्षण भर के लिये संयोगरूप हैं, उनका भी तू जानने ही वाला है और तू अपने ज्ञायकस्वरूप का ही भोगनेवाला है। जो क्षणिक पुण्य-पाप हों, उन्हें अपने ज्ञायकस्वभाव के द्वारा जान ले और अपने ज्ञायकस्वरूप में दृढ़ हो जा। (कलश ३४)

४—राग-द्वेष क्षणिक हैं, आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप में वे नहीं हैं। राग-द्वेष से तेरा त्रैकालिक स्वरूप दब नहीं जाता; इसलिये राग-द्वेष के होने पर भी, उस समय तू अपने ज्ञायकस्वरूप में शंका मत करना। राग-द्वेष को स्वरूप के बल से जान लेना। (गाथा ४५)

५—अकेला आत्मद्रव्य, संसार का कारण नहीं है। आत्मद्रव्य में एक भी भव अथवा भव का भाव नहीं है, इस प्रकार की भेदज्ञानशक्ति का विकास होना ही मुक्ति का कारण है, जिसके ज्ञान में आत्मा की स्वीकृति हो गई, उसके संसार की, अभव्य-भव की शंका नहीं रहती। त्रैकालिक स्वभाव पर दृष्टि कर तो भव का अंत हो जायगा। (गाथा ७२)

६—पहले यह निश्चय कर कि तुझे आत्महित करना है या धींगाधींगी? यदि तुझे धींगाधींगी करना हो तो यहाँ पर ऐसी बात नहीं है और यदि तुझे आत्महित करना हो तो अपनी पहले की तमाम मान्यताओं को छोड़कर ज्ञानीजन जैसा कहते हैं, उस प्रकार अपने आत्मस्वरूप को मानकर उसी में स्थिर हो जा और उसी की निःशंक श्रद्धा कर, ऐसा करने से ही तेरा आत्महित होगा और अल्पकाल में ही तेरी मुक्ति हो जायेगी। (कलश ३५)

७—शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की रमणतारूप अखंड चारित्र ज्वाला की होली में हिंसा अथवा दया, भक्ति की समस्त विभावभावरूपी लकड़ियाँ जल जायेंगी; इसलिये विभावभाव में आत्मा की शोभा को मानना छोड़ दे। (गाथा ९१)

आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है किन्तु अनादि से स्वरूप के अनभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है। यदि कोई यथार्थ रुचिपूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

चाहे जितना चतुर कारीगर हो, तथापि वह दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता किन्तु यदि आत्मस्वरूप की पहिचान करना चाहे तो वह दो घड़ी में भी हो सकती है। आठ वर्ष का बालक एक मण का बोझा नहीं उठा सकता किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा की प्रतीति करके केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। आत्मा, परद्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता किन्तु स्वद्रव्य में पुरुषार्थ के द्वारा समस्त अज्ञान का नाश करके, सम्यग्ज्ञान को प्रगट करके, केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्व में परिवर्तन करने के लिये आत्मा संपूर्ण स्वतंत्र है किन्तु पर में कुछ भी करने के लिये आत्मा में किंचित्मात्र सामर्थ्य नहीं है। आत्मा में इतना अपार स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ी में सातवें नरक जा सकता है और यदि सीधा चले तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।

परमागम श्री समयसारजी में कहा है कि 'यदि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गलद्रव्य से भिन्न दो घड़ी के लिये अनुभव करे, (उसमें लीन हो जाय), परिषहों के आने पर भी न डिगे तो घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तो मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना सुलभ ही है, इसलिये श्री परम गुरुओं ने यही उपदेश प्रधानता से दिया है।'

श्री समयसार प्रवचनों में आत्मा की पहिचान करने के लिये बारंबार प्रेरणा की गई है कि—

(१) चैतन्य के विलासरूप आनंद को जरा पृथक् करके देख! उस आनंद के भीतर देखने पर तू शरीरादि के मोह को तत्काल छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झट से छोड़ सकेगा, यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है।

(२) सातवें नरक की अनंत वेदना में पड़े हुओं ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है, तब यहाँ पर सातवें नरक के बराबर तो पीड़ा नहीं है। मनुष्यभव प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है? अब

सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर। इस प्रकार समयसार प्रवचनों में बारंबार-हजारों बार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है। जैनशास्त्रों का ध्येयबिन्दु ही आत्मस्वरूप की पहचान कराना है।

'अनुभव प्रकाश' ग्रंथ में आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुये कहा है कि कोई यह जाने कि आज के समय में स्वरूप की प्राप्ति कठिन है तो समझना चाहिये कि वह स्वरूप की चाह को मिटानेवाला बहिरात्मा है..... जब वह निठल्ला होता है, तब विकथा करने लगता है। यदि वह तब स्वरूप की प्रेरणा-अनुभव करे तो उसे कौन रोक सकता है? यह कितने आश्चर्य की बात है कि वह परपरिणाम को तो सुगम और निजपरिणाम को विषम बताता है। स्वयं देखता है जानता है, तथापि यह कहते हुये लज्जा नहीं आती कि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता..... जिसका जयगान भव्य जीव गाते हैं, जिसकी अपार महिमा को जानने से महा भवभ्रमण दूर होता है, ऐसा यह समयसार (आत्मस्वरूप) अविकार जान लेना चाहिये।

यह जीव अनादि काल से अज्ञान के कारण परद्रव्य को अपना करने के लिये प्रयत्न कर रहा है और शरीरादि को अपना बनाकर रखना चाहता है किन्तु परद्रव्य का परिणमन जीव के आधीन नहीं है; इसलिये अनादि से जीव के परिश्रम (अज्ञानभाव) के फल में एक परमाणु भी जीव का नहीं हुआ। अनादिकाल से देहदृष्टिपूर्वक शरीर को अपना मान रखा है किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होनेवाला है; दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न है। जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थ के द्वारा अल्प काल में समझ सकता है। जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे, तब समझ सकता है, स्वरूप के समझने में अनंत काल नहीं लगता, इसलिये यथार्थ समझ सुलभ है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचि के अभाव में ही जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को नहीं समझ पाया; इसलिये आत्मस्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान प्राप्त करो।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.०४-०१-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड